2. सामन्त-व्यवस्था और उसके प्रभाव

[FEUDALISM AND ITS EFFECTS]

जागीरदारी-व्यवस्था की उत्पत्ति दक्षिण-भारत में सातवाहन-वंश के समय में और उत्तर-भारत में गुप्त-काल के समय में तभी हो गयी थी जब सातवाहन और गुप्त-सम्राटों ने ब्राह्मणों को बड़े-बड़े भू-क्षेत्र दान में देकर उन्हें उनका स्वामी बना दिया। परन्तु सातवीं सदी से इस प्रथा की प्रगति हुई और राजपूत-युग तक यह व्यवस्था अपनी परिपक्व स्थिति में पहुँच गयी। सातवीं सदी से हिन्दू शासकों ने दान के अतिरिक्त अपने अधीन अधिकारियों अथवा सम्बन्धियों को तनख्वाहें या नकद इनाम देने की बजाय भूमि देना शुरू किया। इसके अतिरिक्त, पराजित राजा को उसके राज्य को उसी को वापस देकर उसे अपना सामन्त बना लेना भी इस व्यवस्था के विकास का कारण बना। इससे उस व्यवस्था का निर्माण हुआ जिसे जागीरदारी अथवा सामन्त-व्यवस्था पुकारा गया।

राजा अथवा सम्राट अपने अधिकारियों को जागीर के रूप में भूमि दिया करता था। उस भूमि से लगान वसूल करने का अधिकार उस अधिकारी को प्राप्त हो जाता था जिसमें से

Scanned with CamScanner

वह एक निश्चित वार्षिक धन राजा को कर के रूप में दिया करता था। सम्राट को यह अधिकार था कि वह अपने अधिकारी को कभी भी उस जागीर से हटा सकता था। प्रारम्भ में ऐसा हुआ भी परन्तु धीरे-धीरे प्रभावशाली और शक्तिशाली अधिकारियों ने जिन्हें सामन्त या जागीरदार पुकारा गया, अपने अधिकार को पैतृक बना लिया अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी जागीर का मालिक उसका पुत्र होने लगा, और सम्राट उसे स्वीकार मात्र कर लेता था। इस प्रकार राजा अथवा सम्राटों ने अपने राज्य की अधिकांश भूमि को अपने जागीरदारों में बाँट दिया जिनका अधिकार अधिकांशतया वंशानुगत हो गया। ऐसा नहीं था कि सम्राट के पास अपनी भूमि नहीं रहती थी। उसकी अपनी स्वयं की भूमि भी थी जिससे उसके कर्मचारी लगान वसूल करते थे। परन्तु उसके राज्य की भूमि का पर्याप्त भाग जमींदारों अथवा सामन्तों के अधिकार में चला गया। मूलतया इसी व्यवस्था को जागीरदारी-व्यवस्था पुकारा गया।

परन्तु इस व्यवस्था में कुछ अन्य बातें भी सम्मिलित थीं। प्रत्येक जागीरदार सम्राट के अधीन था, समय-समय पर वह सम्राट के दरबार में उपस्थित होता था, उसे भेंट देता था और अपनी उपाधियों की उससे स्वीकृति लेता था अथवा उपाधियाँ प्राप्त करता था। परन्तु जागीरदार का एक मुख्य उत्तरदायित्व सम्राट के आदेशानुसार उसे सैनिक सहायता प्रदान करना था। इसके लिए प्रत्येक जागीरदार को अपने पास एक सेना रखनी होती थी यद्यपि सम्राट उसकी संख्या को निश्चित नहीं करता था। प्रत्येक जागीरदार अपनी स्वेच्छा से अपनी सेना की संख्या, शिक्षा, वेतन आदि को निश्चित करता था। एक ही सम्राट के अधीन जागीरदारों को आपस में युद्ध करने की आज्ञा नहीं थी परन्तु नाम, वंश, कुल, सम्मान, विवाह, आदि के प्रश्नों को लेकर वे आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। सम्राट उसमें अधिक हस्तक्षेप भी नहीं करता था क्योंकि उससे जागीरदारों की शक्ति उसकी तुलना में क्षीण होती थी और उनकी सैनिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता था, जो उसके लिए लाभदायक था। पारस्परिक संघर्षों के अतिरिक्त जागीरदार पड़ौस के राजाओं अथवा जागीरदारों से भी युद्ध करते रहते थे। सम्राट के द्वारा इस प्रकार अपनी जागीर में वृद्धि करने की उन्हें स्वतन्त्रता थी क्योंकि उससे सम्राट को लाभ था।

इस व्यवस्था की एक अन्य विशेषता भी बन गयी। जागीरदारों ने अपनी भूमियों को अपने अधीन अधिकारियों को देना आरम्भ कर दिया। ऐसे अधिकारी उस जागीरदार के अधीन जागीरदार बन गये। इस पद्धति से केवल सम्राट के ही जागीरदार नहीं रहे अपितु जागीरदारों के अधीन भी जागीरदार होने लगे और उनके कई वर्ग हो गये। इस व्यवस्था से सम्राट और उसके किसानों के बीच कई बिचौलिये हो गये। इस प्रकार प्रारम्भ में भूमि के दान से और बाद में लगान वसूल करने के लिए स्थायी रूप से जागीरदारों को भूमि का स्वामी बना देने की प्रशासकीय व्यवस्था के फलस्वरूप इस जागीरदार-व्यवस्था का निर्माण हुआ जिसमें जागीरदार, छोटे जागीरदार और उनसे छोटे जागीरदार आदि वर्गों का जन्म हुआ। इनमें से बड़े सामन्त या जागीरदार अपने को महासामन्त या महामण्डलेश्वर पुकारते थे जबकि छोटे सामन्त राजा, सामन्त, राजक, ठाकुर या भोग्ता कहलाते थे।

इस व्यवस्था में सम्राट को एकमात्र लाभ यह था कि उसे लगान वसूल करने के लिए अपने अधिकारी नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं थी। विभिन्न जागीरदार अपनी जागीरों के प्रशासकीय और न्याय-कार्यों की पूर्ति स्वयं कर लेते थे। जिन ब्राह्मणों को भूमि दान में दी जाती थी उनसे आशा की जाती थी कि वे कृषियोग्य भूमि का विस्तार करेंगे तथा अपनी आय के सहारे विद्या-प्रसार के लिए प्रयत्न करते रहेंगे। इस प्रकार, सम्राट को अपने कुछ

Scanned with CamScanner

मार्गों का सुरक्षित न रहना, विभिन्न राज्यों द्वारा व्यापारिक वस्तुओं से कर लेना और सामन्ती-व्यवस्था के कारण किसानों का उत्पादन-वृद्धि में रुचि न लेना इस कमी के कारण थे। परन्तु तब भी दैनिक उपभोग की वस्तुओं जैसे नमक, मसाले, कपड़ा आदि का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की आवश्यकता, शासक-वर्ग के लिए विभिन्न विलासिता की वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आदान-प्रदान तथा व्यापारी-वर्ग की लाभ प्राप्त करने की आकांक्षा के कारण व्यापार किया जाना अनिवार्य था। इस कारण विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न वस्तुएँ देश के एक भाग से दूसरे भाग में भेजी जाती थीं और विभिन्न स्थानों ने स्थानीय वस्तुओं के उत्पादन में ख्याति प्राप्त कर ली थी। बंगाल मलमल, सन, पान और सुपारी के लिए प्रसिद्ध था, कलिंग में चावल की विभिन्न अच्छी किस्मों का उत्पादन होता था, गुजरात में सूती कपड़ा, नील और चमड़े की वस्तुएँ तैयार की जाती थीं, मालवा गन्ना, नील और अफीम के लिए प्रसिद्ध था तथा दक्षिण-भारत समुद्र से प्राप्त मोती, मूल्यवान पत्थर, चन्दन और गर्म-मसालों के लिए प्रसिद्ध था। दसवीं शताब्दी के मनुस्मृति के टीकाकार **मेधातिथि** ने जौ एवं चावल सहित सत्रह प्रकार के अनाज को धान्य की श्रेणी में रखा है। कलिंग व मगध प्रदेश अपने चावल की पैदावार के लिए विख्यात था। कश्मीर फलों के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ अदरक, मसालों, दालों एवं ईख का उत्पादन व्यापारिक स्तर पर होता था। *कुवलयमाला* और *कथासरित्सागर* के वर्णनों से ज्ञात होता है कि व्यापारी विभिन्न वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते थे। *कुवलयमाला* में उत्तर और दक्षिण-भारत के व्यापारियों का एक स्थान पर मिलने का उल्लेख किया गया है। आहार (उदयपुर जिला) के दसवीं सदी के अभिलेखों में कर्नाटक, मध्य-देश, गुजरात और पंजाब के व्यापारियों के एक सम्मेलन का वर्णन दिया गया है। इस प्रकार, इस काल में भी आन्तरिक व्यापार प्रचुर मात्रा में होता था। दसवीं और बारहवीं सदी में चौहानों, चन्देलों, परमारों और चालुक्यों द्वारा दृढ़ राज्यों की स्थापना कर लेने पर इस व्यापार की और भी प्रगति हुई।

भारत में आन्तरिक व्यापार सफलता से होता था। सुरक्षा की कमी, विभिन्न राज्यों की सीमाओं पर व्यापारिक-कर आदि की कठिनाइयों के बावजूद भी आन्तरिक व्यापार नदियों और सड़कों दोनों मार्गों से होता था। नदियों के माध्यम से व्यापार करना अधिक सुरक्षित माना जाता था। परन्तु भारत में सड़कों की भी कमी नहीं थी। एक सड़क कन्नौज से प्रयाग होती हुई ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह तक और उसके पश्चात् काँची तक जाती थी, एक अन्य कन्नौज से उत्तर-पश्चिम की ओर गजनी तक जाती थी, एक अन्य मार्ग बयाना से राजस्थान होते हुए करांची तक जाता था, और एक अन्य मार्ग दिल्ली से अजमेर और फिर वहाँ से अहमदाबाद तक जाता था। इस प्रकार, भारत के सभी नगर विभिन्न सड़कों द्वारा जुड़े हुए थे और सड़कों की सुरक्षा करना तथा उनकी मरम्मत कराना राजा का कर्तव्य माना जाता था। भारत का व्यापार पूर्व में कामरूप तथा बर्मा और उत्तर में नेपाल, तिब्बत और चीन से भी स्थल-मार्ग से होता था। यहाँ भी विभिन्न मार्ग थे यद्यपि इन मार्गों की यात्रा असुविधाजनक और संकटपूर्ण थी।

Scanned with CamScanner